आदिवासी अस्मिता : चिन्तन के विविध सरोकार

नन्हकू प्रसाद यादव,

षोधार्थी,
हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
डॉ0 शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय,लखनऊ

आदिवासी जनजातियाँ प्राचीन काल से ही विश्व के हर भाग एवं देश में निवास करती रही हैं। विश्व में सबसे अधिक आदिवासी समूह अफ्रीका महाद्वीप में निवास करते हैं। अफ्रीका के बाद हमारे देश में ही सबसे अधिक आदिवासी समूह पाये जाते हैं। यद्यपि सभी आदिवासी समूहों की भाषा रहन–सहन, भेष–भूषा, एवं दैनिक गतिविधियों के आधार पर पृथक पहचान है फिर भी कुछ ऐसे स्थायी तत्त्व हैं जिनका समेकीकृत स्वरूप आदिवासी जन की एक विशिष्ठ छवि बनाता है। इन समूहों की समेकीकृत छवि ही आदिवासी अस्मिता है। आदिवासी अस्मिता का विश्लेषण करने के लिए सभी आदिवासी समूहों की पहचान अनिवार्य है। सबसे पहले आदिवासी शब्द की व्याख्या करना आवश्यक होगा, क्योंकि 'आदिवासी' शब्द एक पहचान को चिन्हित करता है, और यह पहचान आदिवासी अस्मिता से जुड़ी है।आदिवासी शब्द में इन समूहों के यहाँ मौखिक की पुष्टि होती है जब हिन्दुत्व वादी समाज इस शब्द के स्थान पर वनवासी शब्द को महत्त्व देते हैं। इन मुख्य धारा के लोगों की मानसिकता आदिवासी समूहों की मूल पहचान को खत्म करना है। इन मुख्य धारा के कुचक्र के कारण आदिवासी विरोधी लोगों ने संविधान में भी इस शब्द को मान्यता नहीं मिलने दी। इस संबन्ध में आदिवासी लेखिका रमणिका गुप्ता अपनी पुस्तक 'आदिवासी कौन''? में लिखती हैं कि "देश की महान आत्माओं ने जिस 'आदिवासी' शब्द को गौरवान्वित किया है, भारत सरकार ने आज तक उस शब्द को सम्मान नहीं दिया है। आदिवासी शब्द को संवैधानिक मान्यता नहीं है।"[1]

इसके बाद भी भारतीय संविधान ने आदिवासी शब्द को मान्यता नहीं दी। इतना ही नहीं इस शब्द को मुख्य धारा के लोगों (आर्य) ने भी उपेक्षा की। भारतीय संविधान एवं आर्यों ने जनजातीय शब्द को इन समूहों पर जबरदस्ती थोपा, जबकि इन समूहों में जाति की अवधारणा का नामों–निशान भी पाया नहीं जाता। जनजातीय शब्द का अस्तित्व भी सन् 1940 ई0 से पहले नहीं था। इस संम्बध में ताराम सुन्हेर सिंह अपने लेख पौराणिक मिथकों की आदिवासी व्याख्या में लिखते हैं। "कि मुझे लगता है कि यह शब्द मूल निवासियों के गौरव, स्वाभिमान, आत्मसम्मान को ऊँचा नहीं उठा सकता। जिस शब्द में गौरव की अनुभूति न हो, वह शब्द हमारी अस्मिता व स्वाभिमान को कैसे जगा सकता है।"[2]

जब आदिवासी अस्मिता की बात की जायेगी तो अस्मिता से जुडे सभी तत्त्वों की पहचान करनी होगी। जहाँ आदिवासी जन की अस्मिता के प्रश्न सम्पूर्ण मानवता के मौलिख सरोकारों के साथ जुड़ जायेगें। यह सरोकार सभ्यता, संस्कृति व विज्ञान से संम्बन्धित होगें। जो आदिम युग से लेकर वैश्विक संकट तक पहुँचने एवं इस संकट का समाधान आदिम मौलिक सरोकारों से सम्बन्धित होगें। आदिवासी अस्मिता के तत्त्वों के विषय में प्रसिद्ध आदिवासी लेखक हरिराम मीणा अपनी पुस्तक ''आदिवासी दुनिया''

में लिखते हैं। "कि आदिवासी अस्मिता में उनकी समग्र संस्कृति को केन्द्र में रखना होगा जिसमें भाषा, धर्म, मिथक, प्रथाएँ, जीवन शैली, खानपान, वेशभूषा, गणचिन्ह, सौन्दर्य बोध, निषेध, आवास, परम्परागत ज्ञान, मानवेत्तर प्राणी जगत व प्रकृति तत्त्वों से संम्बध, स्वायत्तता, जीवन–यापन, पर्वोत्सव, किवदंतिया, मुहावरे, गल्प, गीत–संगीत, स्त्री–पुरुष सम्बंध, परिवार–समाज व बस्तियों की दशा आदि से सम्बन्धित सभी बातें समाहित होगीं।"[3]

उपर्युक्त सभी तत्त्वों को मिलाकर सम्पूर्ण भौतिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक परिघटना के रूप में इसे समझा जा सकता है। इस सम्बंध में किन–किन तत्त्वों पर किस तरह का दबाव पडा है एवं इस दबाव से इन तत्त्वों के स्वरूप में कितना परिवर्तन हुआ है। साथ ही साथ इन दबाओं की प्रतिक्रिया के बाद उनकी परम्परा किस रूप में विकसित हो रही है इन सबका विश्लेषण करने पर ही आदिवासी अस्मिता को समग्र रूप से समझा जा सकता है।

भाषा एवं धर्म मानव जीवन के ऐसे अनिवार्य तत्त्व है, जो किसी भी समाज के स्वाभिमान एवं उसके अस्तिव से जुड़े होते हैं। आदिवासी समूहों को अपनी मातृभाषा में शिक्षा देकर उन भाषाओं को भारतीय संविधान की आठवी अनुसूची में शामिल कर उनकी भाषा की अस्मिता को बचाया जा सकता है इसके साथ ही उनका मानवता का धर्म सरना को भी अन्य धर्मों की तरह मान्यता दे देनी चाहिए जिससे उनकी धार्मिक अस्मिता की रक्षा हो सके। भाषा एवं धर्म के साथ ही मिथकों की बात आती है जो प्राचीन समय के बाद किन्हीं पात्रों, दृश्यों, स्थितियों, मनोदशा आदि के आधार पर बनते हैं। पौराणिक ग्रन्थों में आर्य–अनार्य की लम्बी संघर्ष परम्परा मिलती है। जिसमें अनार्यो को राक्षस, असुर एवं दानव जैसी मिथकीय अवधारणाएँ गढ़कर उनके शरीर पर सींग पूँछ उगाकर उन्हे एक भयानक रूप दिया गया, जब कि ऐसी कोई प्रजाति न रही है और न है। इस सम्बन्धं में प्रसिद्ध आदिवासी लेखक हरिराम मीणा अपने लेख 'दबा दी गयी पहचान' में लिखते हैं कि– "दर असल यह इस धारा के मूलवासी मानव समुदायों को वास्तविक इतिहास से दूर फेक देनें का एक अमूर्त वादी षडयंत्र था। इसे हम देश की मूल प्रजातियों का काल्पनिक विलुल्तीकरण कह सकते है। शास्त्रों में प्रस्थापित और थोपी हुई बहुप्रचारित मौखिक परम्परा में चली आ रही ऐसी मिथकीय अवधारणाएँ मानव गरिमा के विरूद्ध है। इन्हें हू–ब–हू मानते रहना अतीत के संघर्ष नायकों की असली छवि को विरूपित करते रहना है। जरूरत इस बात की है कि मिथकीय इतिहास में आदिवासियों की दबा दी गयी असली पहचान को पुनर्व्याखयित कर सामने लाया जाए।"[4]

किसी भी समूह का परम्परागत व्यवहार विकसित होकर उस समाज की प्रथाओं के रूप में सामने आता है। यदि उस समूह में गत्यात्मक चेतना है तो उसकी प्रथाएँ समय के साथ संशोधित परिवर्तित होती हुई जड़ता से निकल कर समाज को गति देने में सहयोग करती हैं। आदिवासी समूहों में जड़ता की चेतना होने के कारण इस समाज की प्रथाओं में आशिंक परिवर्तन ही हुए है। अधिकांश प्रथाएं मूल स्वरूप में ही विद्यमान है। आदिवासी समाज के सभी समूह कुछ निषेधों का भी कड़ाई से पालन करते हैं। अलग अलग समूहों के निषेध भी अलग हो सकते हैं। यद्यपि सामाजिक निषेध नकारात्कता का भाव देते हैं। फिर भी आदिवासी समाज के ये निषेध समाज विशेष के लिए सकारात्मक तत्व के रूप में सहायक बनते हैं। आदिवासी समाज के निषेध के रूप में यथा अपने ग्रोत्र में विवाह सम्बंध न होना, मृतको का बस्ती से दूर अन्तिम संस्कार करना, एवं अपने गणचिन्ह को नुकसान नहीं पहुँचाना है।

आदिवासी अस्मिता के तत्वों में खान–पान

व वेशभूषा का भी प्रमुख स्थान है। प्रत्येक आदिवासी समूह परम्परागत खान–पान एवं वेश–भूषा को अपनी जीवन शैली में प्रमुख स्थान देते हैं खान–पान व वेश–भूषा के सम्बन्ध में आदिवासी लेखक हरिराम मीणा का कहना है। "कि खान–पान व वेश भूषा एक आकार पाने के लिए लम्बे समय का इन्तजार करते है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए बाद उनमें यकायक बदलाव की माँग करना एक मानसिक तनाव को जन्म देता है जिसका उग्र प्रतिरोध आत्मघात या पक्षाघात के रूप में सामने आता है।"[5]

आदिवासी समाज की अस्मिता के प्रमुख तत्वों के रूप में मानवेत्तर प्राणी जगत एवं प्रकृति के साथ सह अस्तित्व की भावना है। दरअसल पृथ्वी पर विकसित हुए जीवन को एक सीमा तक ही प्रथक –प्रथक भागों में देखा जा सकता है। जैसे जलचर, थलचर एवं नभचर तीनों ही स्थानों पर रहने वाले जीव जगत व प्राकृतिक वनस्पतियों का सहअस्तिव रह है। आदिम काल से ही मानव के द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के बिना सोचे समझे दोहन की प्रवृति के कारण प्रकृति का संकट खतरे में पड़ गया है। इस संकट को दूर कर सहअस्तित्व की भावना को बचाने का उपाय आदिवासी समाज के पास हैं। यद्यपि आदिवासी समाज विश्व के किसी भी भाग में हों सह अस्तित्व की भावना सभी में पाई जाती है। अस्तिव की भावना किसी भी समय किसी भी रूप में भंग होगी तो आदिवासी अस्मिता पर भी संकट होगा। आदिवासी जीवन की कल्पना भी इस सहअस्तित्त के बिना संभव नहीं है। यही कारण है कि आदिवासी जल, जंगल एवं जमीन के लिए आवाज उठाता रहता है। आदिवासी अस्मिता की अवधारणा जड़ नहीं होती, बल्कि यह परिवर्तन शील एवं गत्यात्मक होती है। जल, जंगल एवं जमीन, मौलिक सरोकारों से समृद्ध होते हैं जिनमें परिवर्तन की संभावना नहीं रहती । इससे इतर सरोंकारों में आदिवासी अस्मिता की परिवर्तवशील अवधारणा रहती है, जिसे समाज की आवश्यकता व समय के अनुसार संशोधित एवं परिवर्तित किया जा सकता है।

आदिवासी अस्मिता की परिवर्तनशील अवधारणा के विषय में भाषा पर बात करते हुए आदिवासी कवि हरिराम मीणा अपनी पुस्तक 'आदिवासी दुनिया' में लिखते हैं। "किसी भाषा पर बात की जाय तो भाषा की मौलिकता के संरक्षण के साथ–साथ उसके विकास व उपयोग के लिए बाहरी सटीक व उपर्युक्त शब्दों का समावेश, मूल लिपी नहीं है तो किसी लिपि को अपनाना या स्वतंत्र लिपि विकसित करना भाषा में रचे जाने वाले साहित्य या मौखिक साहित्य के संरक्षण के लिए वैज्ञानिक तकनीकी का सहारा लेना भाषा के लिए उपयोगी होगा। इससे वह भाषा दूषित न होकर समृद्ध ही होगी।"[6]

भाषा की तरह ही संस्कृति के अन्य पक्षों में भी संशोधन करना अस्मिता पर आघात नहीं बल्कि विकास कहा जायेगा। आदिवासी घरों एवं बस्तियों के स्परूप में भी समय व सुरक्षा की दृष्टि से परिवर्तन करना विकास की प्रकिया में ही होगा। आदिवासी लोगों के परम्परागत ज्ञान पुंज को भी आधुनिक तकनीकी एवं विज्ञान के आधार पर विकसित करना मौलिकता का विस्तार होगा शिक्षा, स्वास्थ्य व अन्य भौतिक सुविधाओं को भी आधुनिक तकनीक के आधार पर विकसित किया जाना चाहिए। कई बार मौलिकता के नाम पर अच्छी चीजों का भी विरोध किया जाता है जो कि आदिवासी जीवन को समृद्ध होने से रोकता है। यह रोक आदिवासी अस्मिता पर आघात करती है न, कि उनका विकास।

आदिवासी अस्मिता के प्रमुख तत्त्व के रूप में जब स्वायत्तता की बात की जाती है, तो यह इस समाज के सभी स्तरों पर प्रासंगिक दिखाई देती है। स्वायत्तता, समाज एवं संस्कृति है। स्वायत्तता का मुद्दा पूर्वोत्तर भारत में प्रमुख रहा है। विशेषकर नागा आदिवासी के मुद्दे स्वायत्तता

से ही सम्बन्धित रहे हैं जिनका उचित समाधान अभी भी नहीं हुआ है। स्वायत्तता के विषय में आदिवासी लेखक हरिराम मीणा लिखते हैं कि–"जो समाज लम्बे समय तक अपनी ही दुनिया में स्वायत्त व स्वाबलंबी जीवन जीता रहा उसके पीछे अस्मिता एवं आत्म सम्मान की समृद्ध परम्परा रही है। इस स्वायत्तता से आदिवासी जन बहुत मुश्किल से समझौता कर रहे हैं चाहे वह समझौता उनके लिए लाभकारी ही हो। इसकी वजह दीर्घकालीन मानसिकता होती है जिसमें परिवर्तन बाहर से नहीं बल्कि सकारात्मक परिवर्तन के लिए उनकी सहमति लेनी होगी।"[7]

स्त्री पुरुष सम्बंध एवं समाज में स्त्री को महत्वपूर्ण स्थान इस समाज में प्राप्त है। कई समूहों में मातृसत्तामक परम्परा पायी जाती है जिसमें स्त्री सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती है, जिससे समाज में उसे बहुत ही सम्मानित स्थान प्राप्त होता है। सभ्य समाज की तरह शिक्षित होने पर स्त्री पर अत्याचार होना कहाँ की जागरूकता है। आदिवासी समाज इस तरह की मानसिकता नहीं रखता। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध आदिवासी लेखिका महाश्वेता देवी लिखती हैं कि– "इस समाज से आदिवासी ज्यादा सुसभ्य व आधुनिक है। आदिवासी समाज में दहेज प्रथा नहीं है। एक लड़की उनके समाज में उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितना कोई लड़का, उनके यहाँ विधवा विवाह सर्वस्वीकृत है इस तरह स्त्रियों के प्रति आदिवासी समाज ज्यादा सभ्य है, कारण यह कि वहाँ तलाक और पुनर्विवाह सर्वस्वीकृत है। सभ्य समाज को उनसे यह शिक्षा लेनी चाहिए।"[8]

आदिवासी अस्मिता के उपर्युक्त सभी सरोकारों का सम्बंध सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा से जुड़ा हुआ है। गत्यात्मक दृष्टिकोण से आदिवासी अस्मिता के प्रश्नों को प्रगतिगामी व परिवर्तन कामी दृष्टिकोण से देखना होगा न कि सजावटी झाँकी या म्यूजियम की दृष्टि से। आदिवासी अस्मिता के मुद्दे को चरण बद्ध तरीके से समझने के लिए इसे प्रमुख रूप से तीन चरणों में विभाजित करके देख सकते है।

आदिम अवधारणा

आदिम युगीन जीवन से सम्बन्धित सरोकार प्रकृति के सहअसित्स से सम्बन्धित थे। यह सरोकार आर्य–अनार्य श्रृंखला के बाद भी बने रहे। इसके बाद ब्रिटिश कालीन भारत में भी आदिवासी अस्मिता बनी रही जिसका अस्तित्व वर्तमान में भी है।

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत की बहुत सारी सामाजिक राजनैतिक उथल–पुथल के बाद भी आदिवासी अस्मिता पर आघात नहीं हुआ, जिसकी वजह आदिवासी अंचलों में किसी तरह का बाहरी अतिक्रमण नहीं हुआ। इस समय आदिवासी समाज मुख्य धारा के समाज से सामाजिक, राजनैतिक व भौतिक स्तर पर कितना भी पिछड़ा रहा हो लेकिन समृद्ध सांस्कृतिक स्तर पर अपनी परम्परागत धरोहर को अवश्य संजोये व संरक्षित किये रहा। आदिवासी अस्मिता का यह दौर सबसे महत्वपूर्ण दौर कहा जा सकता है।

औधोगीकरण व उपनिवेशवाद

18वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात भारत में हुआ। इसी समय अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार जमाना शुरु किया जिसमें देशी सामन्तों का भी गठजोड़ था। जिसकी वजह से यह लोग आदिवासी अंचलों में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए प्रवेश करने लगे। इसी घुसपैठ का आदिवासी समुदायों ने जमकर प्रतिरोध किया जो सशस्त्र संघर्षों तक पहँचा। यह आन्दोलन सीधे–सीधे आदिवासी अस्मिता से सम्बन्धित था और लडाई में बहुत सारे राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक कारण भी थे। प्रसिद्ध इतिहासकार रामचन्द्र गुहा व एलियन रियाज वान ने यह प्रसंज्ञान लिया है कि– "ब्रिटिशकाल एवं

भारतीय राष्ट्रीय काग्रेंस के आन्दोलन के सम्पूर्ण इतिहास में आदिवासी अस्मिता को कोई स्थान नहीं दिया, जहाँ एक ओर दलित में छुआछूत का मुद्दा राष्ट्रीय विमर्श का मुद्दा बन जाता है, वहाँ काग्रेंस के एजेन्डे में आदिवासी कहीं नहीं रहा।"[9]

ब्रिटिस उननिवेशवादियों ने वन अधिनियम सन् 1865 ई0 में लागू किया एवं इसके प्रावधानों को सन् 1875 ई0 में बहुत कठोर कर दिया गया । इन अधिनियम ने आदिम लोगों के सभी अधिकार छीन लिये। औद्योगीकरण एवं पूँजीवाद के बाद वामपंथ सामने आया, लेकिन आश्चर्य की बात है कि आदिम अस्मिता का मुद्दा इनके एजेन्डे में कहीं नहीं था। इस सम्पूर्ण दौर में आदिवासी अस्मिता पर बहुत आधात हुआ, यह अलग बात है कि देश आजाद हो गया।

उत्तर आधुनिकता व वैश्वीकरण

20 वीं शताब्दी के अन्तिम दशक से उत्तर आधुनिकता बनाम वैश्वीकरण का दौर शुरू होता है, जिसे आधुनिक समाज ने आर्थिक उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण का नाम दिया है। इस दौरान वामपंथ, भाजपा एवं काग्रेंस ने अपने–अपने स्वरूप के अनुसार वैश्वीकरण की आँधी ने उपभोक्तावाद, विदेशी निवेश एवं पूँजी बाजार को जन्म दिया। जिससे आदिवासी अस्मिता पर गहरी चोट पहुँची। वैश्वीकरण के इस दौर में यूरोप वा अमेरिका ने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को विस्तार दिया, जिससे विश्व की औचलिक संस्कृतियों को खतरा बढ़ गया। वैश्वीकरण आदिवासियों व हाशिये के अन्य मानव समाजों के लिए बहुआयामी आक्रमण के रूप में आया है, जो इन समाजों के अस्तित्व के ठोस धरातल को नष्ट कर रहा है।

आदिवासी अस्मिता को वर्तमान लोकतंत्र में राजनीति के परिप्रेक्ष मे देखना चाहिए। इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो राजनेता आदिवासी जनता का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं वे अस्मिता के मुद्दे को लेकर कितना गम्भीर है। दरअसल आदिवासियों की परमपरागत रूप मे एक स्वतंत्र राजनैतिक प्रणाली रही है, जो मुख्यतः स्वायत्तता व पंचायती व्यवस्था पर आधारित है। यही व्यवस्था आदिवासी अस्मिता के लिए महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए। प्रश्न यह है कि इस अस्मिता का संरक्षण वर्तमान संसदीय प्रणाली में हो रहा है। इसका उत्तर नकारात्मक है क्यों कि आदिवासी नेता भी मुख्य धारा के राजनेताओं की तरह ही उनका ही अनुकरण कर रहे हैं। आदिवासी राजनेताओं द्वारा जब तक आदिवासी अस्मिता के पक्ष में प्रतिनिधित्व स्वर नही उभरेगा तब तक आदिवासी अस्मिता की रक्षा नहीं हो पायेगी।

आदिवासी समुदायों की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण के विषय में उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री पं0 गोविन्द वल्लभ पंत ने सलाह दी थी कि –"आदिवासियों के रीति–रिवाजों और आमोद–प्रमोद की रीति–नीति को अनावश्यक रूप से इतना न बदला जाय कि उनकी अपनी कोई पहचान ही न रह जाये। ऐसा कोई प्रयास ग्रामीण एवं शैल वनों के जीवन से उसके रंग और वैविध्य को समाप्त करना होगा।"[10]

कहने का तात्पर्य यह है कि आदिवासी समाज को उनकी जातीय चेतना के आधार पर विकास निर्धारित करने की योजनाएँ होनी चाहिए न कि भारी भरकम संस्थाओं को उन पर थोपने की। आदिवासियों की परम्परागत जनतांत्रिक व्यवस्था का मूल्यांकन करके उसके अनुसार ही पंचायती व्यवस्था तो लागू ही की जा सकती है जिसमें उनकी परम्परा का संरक्षण भी होगा साथ ही साथ वे देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपनी भागीदारी भी समझेगें। उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं को भी विवेक के आधार पर तौलने की आवश्यकता है जिससे उनको प्रतिगामी एवं परिवर्तन गामी बनाया जा सके। उनके लिए

योजना कोई भी बने उनके विचारों को अवश्य महत्त्व मिलना चाहिए।

निष्कर्षः कह सकते हैं कि आदिवासियों की अस्मिता का संरक्षण बहुत ही महत्त्वपूर्ण मुद्दा है, जिसे संसदीय परम्परा में भी महत्व मिलना चाहिए, उनकी अस्मिता के संरक्षण की बात राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय रिपोर्टो में भी बराबर प्रकाशित होती रही है। वर्ष 2010 ई0 की संयुक्त राष्ट्र संघ की द स्टेट ऑफ द वर्ल्ड्स इंडीजीनल पीपुल नामक रिपोर्ट में भारत की चर्चा करते हुए कहा गया है कि–"आदिवासी बहुल क्षेत्रों में विकास के नाम पर चलाई जा रही परियोजनाओं के कारण उनका विस्थापन हो रहा है। गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी और अशिक्षा के कारण आज आदिवासी समाज अपनी संस्कृति से दूर होता जा रहा है।"[11]

विस्थापन से सम्बन्धित आदिम समूह अपनी जड़ों से काट दिया जाता है, उसकी सांस्कृतिक परम्पराएँ दम तोड़ देती है। वह दूसरी संस्कृतियों से सामजस्य के अभाव में घुटता रहता है। जिससे विकास का सपना अँधेरे में धूमिल हो जाता है। विस्थापन के दर्द को विश्वविख्यात चिंतक 'एडबर्ड सईद' ने कहा था कि– "मेरी मातृभूमि से काट दिया जाना ही मेरे जीवन की गहरी पीड़ा है।"[12]

आगे उन्होनें (निर्वासन चिन्तन) शीर्षक लम्बे आत्मकथात्मक निबन्ध में कहा कि ''जमीन का एक टुकड़ा महज भौगोलिक इकाई ही नहीं होता, वरन् इतिहास, संस्कृति, परम्परा और विरासत का केन्द्र भी होता है।''[13]

1. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन?, पाँचवा संस्करण 2016, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दरियॉगंज, नई दिल्ली, पृ0 – 36
2. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन?, पाँचवा संस्करण 2016, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दरियॉगंज, नई दिल्ली, पृ0 – 159
3. हरिराम मीणा , आदिवासी दुनिया, दूसरा संस्करण 2016, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास , भारत पृ0 – 170,
4. रमणिका गुप्ता, आदिवासी समाज और साहित्य, संस्करणः 2016 सामायिक प्रकाशन जटवाड़ा नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली ,पृ0– 68
5. हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया, दूसरा संस्करणः 2016, राष्ट्रीय पुस्तक न्याय भारत, पृ0 – 171,
6. वहीं, पृ0– 172
7. वहीं, पृ0– 172
8. कथा देश, मई 2010 , पृ0– 26
9. हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया, दूसरा संस्करणः 2016, राष्ट्रीय पुस्तक न्याय भारत पृ0– 174
10. उपाध्याय विजय शंकर, वर्मा विजय प्रकाश – भारत की जनजातीय संस्कृति , मध्य प्रदेश ग्रंन्थ अकादमी, पंचम आवृतिः 1998, पृ0– 50
11. आर0 एल0 फ्रांसिंग – इंटरनेट
12. एडवर्ड सईद पर केन्द्रित– साखी (प्रेमचंद साहित्य का त्रैमासकि) स0 सदानन्द शाही, अंक–जुलाई– दिसम्बर 2016
13. वहीं